

वृद्ध जीवन: अकेलेपन की त्रासदी और सुरक्षा के प्रश्न**रीनू गुप्ता**

वृद्ध जीवन में अकेलापन कुछ समय का फेर है , कुछ समझ का। कोई सब ज्यादातियों के बाद भी हार नहीं मानता, कोई पथराई आंखों से केवल मौत के इंतजार में। रोजमर्रा के जीवन में होते परिवर्तनों और लगातार विस्थापित होता तन-मन-पद , जीवन में जो खालीपन भरता है - वह धीरे-धीरे रोज की ज्यादातियों से गहराता जाता है। जीवन में आस्था होने पर भी जीवन क्रमशः मृत्यु का इंतजार भर बनकर रह जाता है , उसमें सतत प्रयास द्वारा सांसे भरते रहना और जीवन-मृत्यु को बदलते-समझते-सुलगते शुन्य हो जाना ही जीवन की नियति हो जाता है। जीवन की शाम में मृत्यु का सामना करने के दो विकल्प हैं:

- पहला मृत्यु को भी उसी निरंतरता में लेते हुए जिसमें जीवन को लिया था , मृत्यु से उत्पन्न विरक्ति को त्याग देना।
- दूसरा जिंदा आंखों में पथराई सी मृत्यु का आ बैठना और जीवन केवल मृत्यु का इंतजार भर रह जाना।

भावस्तर पर परिपक्वता ही मृत्यु के प्रति व्यवहार को तय करती है। कुछ शेष इच्छाएं जीवन रहते ही पूर्ण करने का प्रयास ही मृत्यु को भी पूर्ण या अपूर्ण बनाता है। वृद्ध जीवन में अकेले सुरक्षा की चिंताओं के साथ मृत्यु का इंतजार भर जीवन नहीं है। साहित्य की अनेक कृतियों ने वृद्ध जीवन और अकेलेपन की समस्या को भाव बोध के स्तर पर व्यक्त किया है, जिसे निम्न शीर्षकों के तर्क विस्तार से समझा जा सकता है-

समय का विस्तार- संकुचन और स्त्री

निरंतरता में परिवर्तन जीवन का नियम है। समय के साथ आयु के वय भी बदलते जाते हैं। हमारा होना ही हमारे समय का होना है। समय कहीं ओर नहीं केवल व्यक्ति में ही निवास करता है और व्यक्ति को ही क्रमशः समयातीत कर देता है- “ सब अपनी लय में समय को तिरोहित करता है। हम हैं तो समय है। समय तो हमारे बाहर भी है और आगे भी। वही है जो हमें आतंकित करता है”।

जीवन को साधने और जिलाये रखने की क्षमता केवल स्मृति में है , ‘समय सरगम’ इसका नोटस लेता है- “अमंगल कभी नहीं पसीजता। आत्मीयता से भी नहीं। स्मृतियां सहेज कर रखी हैं , पर मर चुकी हैं। देह की दक्षता ही इनका भविष्य है। उसके बाद अगर कुछ है भी तो स्मृति और कुछ नहीं। जीने की निपुणता के बाहर हुए नहीं कि गए।”

उम्र के प्रौढ़ पड़ाव पर आकर स्त्री-पुरुष एक-दूसरे पर उतने निर्भर नहीं रह जाते , लेकिन फिर भी एक-दूसरे के साथ रहना चाहते हैं , यह निर्भरता जैविक निर्भरता नहीं बिताये गये जीवन की स्थितियों से निर्मित पदावली है जिसमें ‘सहचर’ होने का भाव ही प्रधान है। कृष्णा सोबती का ‘समय सरगम’ अकेलेपन के त्रास

और मृत्यु के भय से कांपती वृद्धावस्था में 'सहजीवन' को एक ऐसी सहयात्रा के रूप में देख रही है जो जीवन में आस्था बनी रहने के लिए जरूरी है- " सृष्टि के दो मन , स्त्री- पुरुष अलग-अलग दिशाओं से एक ही बिंदु को देख रहे हैं। देख रहे हैं कि मानवीय होने के एक से अधिकार को पा सकें। जी सकें।"

'अकेलापन ही संपूर्णता है।' अकेलेपन को जीवन की एक स्थिति मानने की अपेक्षा संपूर्ण जीवन की संपूर्णता में अगर अकेलेपन को देखा जाए या लिया जाए तो उतनी परेशानी संभवतः जीवन जीने में नहीं होगी , जितना ही वृद्ध जीवन में लोग अनुभव करते हैं। स्थितियों पर रोने-विलाप करने और जीवन को दुष्कर बनाने से अच्छा है, स्थितियों को जितना हो सके सहज स्वीकार करना और अगर यह संभव नहीं है तो नई स्थितियों को बनाना , जिससे जीवन जीने में कम-से-कम सुगमता तो बची रहे। सुविधा चाहे न ही हो - "मितव्ययिता। जैसे जीने-भर को जिया जा रहा हो- सुविधाओं को नहीं।"

'अकेलापन' आरण्या की नियति नहीं है , उसने इसका चुनाव स्वयं अपने लिए किया है ; "पारिवारिक घनिष्ठता से जी हुई पुरानी भाव- गठरी बेमानी हो चुकी है...। परिवार की सुगंध इतनी ही नहीं सुहाती कि संगीत की लय-ताल की तरह हर क्षण दिल तक पहुंचती रहे...। आज का सच यह है कि परिवार के ऊपरी ढाँचे की संगत और भीतरी तनावों से दूर यह शांत अब मुझे सुखकर लगता है।" आरण्या वृद्धावस्था में स्वयं अपने साथ जीने के उपक्रम की हिमायत करती है- जो परिस्थिति जन्य भी है और व्यक्तिजन्य भी। यह निरपेक्षता स्वयं के जीवन की जाँच-पड़ताल का एक अवसर खुद को देती है जिसे सहजता से स्वीकार किया जाना चाहिए। 'आरण्या' स्वीकार पर विशेष बल देती है, निषेध पर नहीं।

समय सरगम वृद्धावस्था की अनेक समस्याओं पर विचार करती है। ' दमयंती' जिसमें- ' आधुनिकता के सभी गुण मौजूद हैं। पहनने- ओढ़ने का सलीका , मीठी गुफ्तगू और गृहस्थी का कायदा-करीना। लेकिन आजकल बेटों के हाथों में गृहस्थी की बागडोर है। उसे अपने अधिकार पता है , लेकिन उनकी मांग करने पर वह मार दी जाती है। लेखिका हर वृद्ध औरत के संदर्भ में प्रश्न उठाती है कि- क्या उसके अस्तित्व और व्यक्तित्व के सूत्र अब भी पिता , पति और पुत्र के हाथ में है। ' भारतीय समाज में अनेक औरतें परिवारों के होने के बाद भी वृद्धाश्रमों, विधवा आश्रमों में रहने के लिए विवश है। समाज में प्रतिष्ठा के नाम पर जिन्हें 'आश्रम' नहीं भेजा जाता उन्हें घर में कैद भुगतनी पड़ती है। बच्चों की प्रताड़ना , छलना और उपेक्षा आम बात है। लेखिका पुरानों से कुछ नया सोचने की मांग करती है , वह कहती है , "निःसंदेह हम पुराने हैं , फिर भी यह समय निस्तेज नहीं...। कामकाज से छुट्टी पा इसे भोगना भी सुख है जीने का।" आरण्या इस समय को 'अपनों के साथ' नहीं अपने साथ गुजारना चाहती है। ईशान उसे इस जीवन सृष्टि- दृष्टि में सहयोग करता है।

परिवार प्रणाली और विवाह संस्था दोनों वर्तमान में कठघरे में खड़ी हैं। नया आधुनिक व्यक्ति इसमें कैसे समाएगा...सुविधाओं के सच बड़े होते जाएंगे और संबंधों के विश्वास सिकुड़ते जाएंगे।" ऐसे समय में बुढ़ापे के संबंध में मूल्य पारंपरिक रहें, हम यह मांग नहीं कर सकते हमें कोई वैकल्पिक वृहत्तर मजबूत व्यवस्था का

निर्माण करना होगा जिसमें वृद्ध जीवन अपनी संपूर्ण संभावनाओं के साथ जीता रहे। इस व्यवस्था के अभाव में आरण्या प्रश्न करती है कि- “ पत्तों की तरह गिरना- निःशब्द , क्या हमारी भी नियति ऐसी नहीं।” ‘कामिनी’ जोकि ईशान की पत्नी की घनिष्ठ मित्र है , उसे उसके बच्चों ने जयादाद हड़प ली है। ‘ उसके पास ओल्ड-ऐज होम का विकल्प ही बचा है।’ यहां लेखिका प्रश्न करती है- “ देखरेख करने वाले कहाँ हैं? कहाँ हैं पुराने परिवार?”

भारत में परिवार संस्था मजबूत रही है। व्यक्ति और समाज के निर्माण में अपना योगदान देती रही है , लेकिन व्यक्ति को बनाने-बिगाड़ने वाली यही संस्था दिनोंदिन कमजोर हो रही है। कोई वैकल्पिक व्यवस्था अभी इसका स्थान लेने में अस्मर्थ है तो कामिनी जैसी हजारों- लाखों महिलाएं या तो धर्म की शरण है या ओल्ड ऐज होम की। दोनों की सीमाएं इतनी हैं कि परिवार वृद्धावस्था के लिए फिर बेहतर विकल्प जान पड़ता है। किन्हीं कारणों से परिवार से दूर वृद्धों के जीवन की समस्याओं पर टिप्पणी करती हुई लेखिका कहती है- “ परिवारों से दूर छिटके अकेले वरिष्ठ नागरिकों की अपनी ही उलझनें और समस्याएं। अपने स्वयं के आसपास घूमती रीति-नीति। अपने होने से जुड़ी हैं संभावनाएं और बूढ़ी हो चुकी आकांक्षाएं। तन-मन की ऊहापोह में झुंझलाते, कभी शांत, कभी रोग-बीमारी और चिंताओं से परेशान।” इस अकेलेपन से मुक्ति और वृद्धावस्था के तनाव व संकोचों से स्वयं को मुक्त रखने का केवल एक ही उपाय है- “केवल आज, अभी के पल में पूर्णतः जीने का प्रयास भविष्य की चिंता और अतीत के दुखों की परछाइयों से मुक्ति- याद रखो इतना ही कि हर दिन एक आशीर्वाद है।”

समाज की कारीगरी कुछ इस प्रकार की गई है कि अकेली औरत को कोई कमरा किराये पर नहीं देना चाहता और औरत अकेली होने के साथ अगर बूढ़ी भी हो तो लोग उसे अप्री जानी- अनजनी जिम्मेदारी समझ कर नकार देते हैं। आरण्या से मकान- मालिक के कुछ इसी तरह के सवाल करता है जिसके उत्तर में अपना सारा मनोबल समेट कर वह केवल इतना ही कह पाती है- “ मैं रहूंगी और मैं ही अपने लिए जिम्मेदार हूँ...। मुझे यह घर नहीं चाहिए। आप किसी ऐसे किरायेदार को दीजिए जिसे मरना न हो।”

अतीत की उपलब्धियों को बिसार , अपने ही खोल में से निकलकर जीवन की निरंतरता में जीने योग्य होने के साथ ‘ मृत्यु योग्य’ होने की तैयारी कृष्णा जी के यहां मिलती है। संसार से लिया गया , उसी को विनीत भाव से लौटाते हुए हर संबंध, विचार और इतिहास से रिक्त हो जाना ही जीवन की सार्थकता और मृत्यु का सच्चा वरण है। वृद्धावस्था को लेकर यह समझ समाज को कोई हल और दिशा अवश्य प्रदान करेगी।

सभी के आकाश के लिए इन्द्रधनुष और तेरहवीं गैरमौजूदगी

गिलिगडु की तेरह दिन की जीवन- कहानी उन सेवानिवृत्त बुजुर्गों की है जो परिवार में सम्मान के लिए संघर्षरत हैं और इसी क्रम में अपने जीवन के लिए सार्थकता खोज रहे हैं , जो सभी के आकाश को इंद्रधनुषी रंगों की प्रेरणा से भर दे। उपन्यास में व्यंजित भाव को निम्न स्तरों पर समझा जा सकता है-

विस्थापित जीवन- जीवन की रीति में पहला व्यवधान विस्थापन का है , जो उसे जड़ से अलग-थलग कर कोई न होने के भाव से जोड़ देता है। जसवंत सिंह को भी- “ कानपुर से दिल्ली आए हुए उन्हें अरसा हो गया। घर की चौखट में दाखिल होते ही वे स्वयं को अपरीचितों की भांति प्रवेश करता हुआ अनुभव करते हैं।”

परिवार के आकाश की चिड़ियाँ - बुजुर्ग अगर परिवार के बचपन के साथ घुले-मिले हो तो पारिवारिक वातावरण सरस और संवेदनशील हो जाता है। “गिलिगडु माने चिड़िया.... , लेकिन मेरी गिलिगडु हैं मेरी जुड़वा पोतियां!” तकनीकी विकास ने बचपन से बुजुर्गों को अपदस्थ किया है , इस दशा को व्यक्त करते उपन्यास कहता है कि- “ बुद्धिविकास की में बड़ी खूबसूरती से बच्चों को संवेदना-च्युत किया जा रहा है- इतना कि बच्चे कभी परिवार में न लौट सकें, न कभी अपना कोई परिवार गढ़ सकें”

अतीत का शोक , वर्तमान की अपूर्णता - वृद्ध जीवन में स्मृतियां गहरी हो जाती है। पूरे जीवन का लेखा-जोखा आंखों के समक्ष होता है। “ कौशल्या गई छोड़कर तो... चूल्हा-चक्की फूका। पढाया बच्चों को। भांवरें डलवाई। गृहस्थी बसवाई। उसके ऊपर कम-से-कम कोई जिम्मेदारी तो शेष नहीं। ” मन को तसल्ली कि जीवन की जिम्मेदारियों से फारिग। लेकिन वर्तमान उस अहसास के बाद भी केवल मौत का इंतजार भर नहीं होना चाहिए। कर्नल स्वामी के शब्दों में- “ मौत जब आएगी , आ जाएगी। किसी ही शकल में आ जाए।... मगर उन कुछेक कष्टकर दिनों की कल्पना में रात-दिन अधमरे होकर जीना जिंदगी का मजाक उड़ाना नहीं!”

‘वे घर के बुजुर्ग हैं’...- बुजुर्गों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे ऐडजस्ट करें। उपन्यास सवाल उठाता है कि , “ बुजुर्गों के संग कैसे रहा जाता है?” यह भी सीखने-सिखाने की आवश्यकता है। लेकिन जब यह ऐडजस्टमेंट नहीं हो पाता तो वृद्धाश्रम के लिए तर्क दिए जाते हैं- “ हमउम्रों की जमात में बाबूजी का मन लगा रहेगा। भैया जगह देख आए हैं। वे बता रहे हैं कि बहुत सुंदर है। भोजनादि की व्यवस्था उत्तम कोटि की है। उन्हें वहां रखने के निर्णय से भैया पर खर्च का अतिरिक्त बोझ पड़ेगा। भैया उसे सहर्ष उठाने के लिए तैयार हैं। ” ये सब इसलिए कि चूंकि वे घर के बुजुर्ग हैं।

तेरहवीं गैरमौजूदगी- कर्नल स्वामी पिछले आठ वर्षों से निपट अकेले। पत्नी का देहांत। दादी के न रहने पर बेटा पोतियों को ले गया। दूसरा विवाह किया तो बेटियां हैदराबाद के होस्टल में। कर्नल चोरी-चोरी उनसे मिलने जाते हैं। जमीन-जयादाद का जीते-जी बँटवारा। मिसेज श्रीवास्तव के शब्दों में, “ ऐसी कसाई औलादों से तो आदमी निपूता भला।” बाबू जसवंत सिंह के मित्र की मृत्यु ने उन्हें जीवन की कविता को एक बार फिर सहेज कर पढ़ने की आवश्यकता जतला दी।

कुछ निर्णय जीते जी... जीवन का आत्मतर्पण – बाबू जसवंत सिंह अपनी नयी वसीयत लिखने का जोखिम उठाते हैं , घोषणा करते हैं कि- “ कानपुर वाला घर उनकी पैतृक संपत्ति नहीं है। उनकी अर्जित संपत्ति है। उनके न रहने पर उस घर की एकमात्र अधिकारिणी सुनगुनियां होगी।” जीवन के रहते जीते-जी केवल मृत्यु

का इतंजार भर करने की रीति के विपरीत उपन्यास जीवन जीने के उम्दा विकल्प खोजने पर जोर देता है और साहित्य से इसकी अपेक्षा भी की जाती है।

जीवन की पतझड़ और वृद्धाश्रमों का औचित्य

पतझड़ नील पद्मनाभन का तमिल उपन्यास है , जिसका हिंदी अनुवाद एच. बालसुब्रह्मण्यम ने किया है। पतझड़ वृद्ध जीवन के संदर्भ में अकेलेपन की समस्या और सुरक्षा के संकट के बीच वृद्धाश्रमों के औचित्य पर विचार करता है। अगर इस शोध पत्र का ध्येय वृद्ध जीवन की समस्याओं का हल साहित्य के माध्यम व्यंजित करने का प्रयास है तो इस दृष्टि से यह उल्लेखनीय कृति है। पतझड़ वृद्ध जीवन के संदर्भ में कुछ महत्वपूर्ण सवालों को उठाता है:-

- “वृद्धाश्रम की छत के नीचे शरण पाए जीव... साठ साल को पार कर बूढ़े- बूढ़ियां... एकाकी , दंपती... क्या इन सबको आधुनिक युग के अणु-परिवार के अवशेष की संज्ञा दें?”
- “इस बुजुर्गी में मेरे साथ या दीदी के साथ रहना छोड़कर अगर आप वृद्धाश्रम में जाकर रहें तो उसका इलज़ाम हम दोनों के ऊपर ही तो पड़ेगा!”
- बूढ़े होने पर सभी अनाथ ही हैं रे....
- “बुढ़ापा आने मात्र से क्या सब कुछ थम जाएगा?”
- “ साठ- सत्तर पार करने वालों में ज्यादातर लोगों के जीवन-स्तर को बेहतर बनाने के लिए कोई योजना है?”

उपन्यास वृद्ध जीवन की कुछ यथार्थ स्थितियों को अंकित करता है-

अर्थ-साधन की उपलब्धता की सीमाएं- वृद्धावस्था में अगर साधनहीन है तो भी स्थिति विपन्न-विवश है। “पचासी साल के बाद भी उन्हें शारीरिक मेहनत करके गुज़ारा करना पड़ता है , जिंदगी के अंत में मौत ही इनके लिए स्थायी विश्राम है...।” और यदि अपनाधन है तो उसके उत्तराधिकारी उसे हथियाने के लिए जिन हथकड़ों को अपनाते हैं वे घटनाएं इस देश में अब आम हो चली हैं- “ अरे जालिम! अपने बाप पर हाथ उठा रहा है? तेरा सत्यानाश होगा...तेरी बरकत नहीं होगी...।”

दम्पति में से एक के जाने से उपजा अकेलापन – इस शोषण की प्रणाली को वृद्ध दम्पति में से एक का जाना और मजबूत कर देता है- “ वृद्धावस्था में पति-पत्नी में किसी एक के मरने पर ऐसा होना आम बात है...घर में किसी को चिंता नहीं है कि घर के अंदर एक जीव दुख से कलप रही है... बेटा , बहू, पोता, पोती किसी को मेरे बारे में कोई फिक्र नहीं है... सब लोग फिल्म, संगीत या नहीं तो घर में टी.वी. ; गपशप इनमें बड़े मस्त रहते हैं...।” एक के चले जाने पर दूसरा या तो परिवार में उपेक्षित या फिर वृद्धाश्रम की ओर- “ यहाँ जितने लोग हैं सबके सब अनाथ ही तो हैं , बेबस, असहाय और लाचार...।”

परिवार-समाज से मिली उपेक्षाएं- वैश्वीकरण ने जिन मूल्यों को जन्म दिया उनमें गला-काट प्रतिस्पर्धा और सत्ता सापेक्षता को जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण मूल्य बना दिया। भौतिकता चरम पर स्थापित हो गई और सुख-सुविधाओं की आंधी अब तक की संबंधों की सहजता और सरलता को बहा कर ले गयी।

“अपने ही घर में पराया बनकर बसर की गई जिंदगी....

खुल्लम- खुल्लम बहसों...

जी-भर कर सुनाई जाती जली-कटी बातें...

-ये सब मन की कड़वाहट और वैराग्य बढ़ाने में ही काम आए...।”

ऐसी स्थिति होने पर वृद्धों के साथ की जाने वाली हाथापाई आम बात की तरह ली जाने लगी-

“इस उम्र में यों सड़क के किनारे अनाथों की तरह... हलक में एक घूंट पानी देने के लिए किसी स्वजन के बिना मरना पड़ा... इन लोगों को इस बात पर रहम क्यों नहीं आ रहा है ?” यह केवल संतान वालों के साथ हो, ऐसा नहीं है। विधवा और बुजुर्ग के साधनों पर हक जमाने के लिए , दूर के रिश्तेदार भी जिम्मेदारी उठाने के ढोंग कर सब हथियाने को तत्पर रहते हैं- “पड़ोस की गली में अकेले रह रही थी रामलक्ष्मी अम्मा... संतान नहीं है, कुछ साल पहले जब पति का देहांत हो गया, तभी से एकाकीपन। वसीयत में लिखा गया था कि घर जिसमें बुढ़िया रह रही थी , उसके निधन के बाद दूर के किसी रिश्तेदार को मिलेगा। वह आदमी कर्ज के बोझ से तंग हो रहा था... इसलिए वह बुढ़िया से कहता रहा कि इस घर को अभी बेचना चाहता हूँ, आप इसे छोड़कर मेरे घर में आकर ठहरें। बुढ़िया इस प्रस्ताव से सहमत नहीं हुई , वह यहीं रहते हुए मंदिर और पूजा-पाठ में दिन काट रही थी। शाम को जो मंदिर गई, लौटी नहीं... आखिर ऐसा दुरंत...।”

अकेलेपन की समस्या और सुरक्षा के प्रश्न- अब प्रश्न यह उठता है कि वृद्धाश्रम बुजुर्गों की अकेलेपन की समस्या और सुरक्षा के हेतु कोई विकल्प प्रस्तुत कर सकते हैं ? वृद्धाश्रम का औचित्य उपन्यास गढ़ता है- “आपके और मेरे सिर पर थोड़े ही लिखा है कि स्वाभिमान खोकर घरवालों की इनायत पर जिएँ। यहाँ रहने वाले आप लोगों को देखकर मुझे ईर्ष्या हो रही है।” उत्तर आधुनिकता ने संयुक्त प्रणाली को पूरी तरह तोड़ दिया है। बच्चों के लिए डे केयर और वृद्धों के लिए ओल्ड ऐज होम क्या विकल्प हो सकते हैं ? बच्चे डे-केयर से अपने घर लौट सकते हैं तो क्या वृद्धाश्रम को भी वृद्ध के चुनाव पर नहीं छोड़ा जाना चाहिए। यहाँ उपन्यास प्रश्न उठाता है- “ वृद्धाश्रम में आकर शरण लेने वाले सभी बुजुर्ग अपने बच्चों या स्वजनों से उपेक्षित या परित्यक्त हैं?” उत्तर में हम कह सकते हैं अधिकांश हो सकते हैं सब नहीं। वृद्ध समाज पार बोझ नहीं है , और वृद्धाश्रम विकल्प मात्र है, विवशता नहीं। इसे समझते-समझाते हुए वृद्ध जीवन का ध्येय हो सकता है- “ अब तो हम अपने को सही ढंग से समझते हुए खुद से प्यार करने लग जाएँ , स्वयं को स्वीकार करें और जरूरी हुआ तो माफ करें। कम से कम आगे की अपनी जिंदगी में जीवन का अर्थ और सुख हासिल करते हुए आनंद से रहें।”

यह स्थिति अकेलेपन से लड़ने और सुरक्षा के संकट से निपटने में अवश्य मददगार हो सकती है। यह साहित्य, समाज सबका ध्येय होना चाहिए कि हम एक ऐसा समाज तैयार करें जिसमें बचपन की संवेदना और बुजुर्गों का सम्मान दोनों सुरक्षित रहे।

संदर्भ ग्रन्थ:

- समय सरगम, कृष्णा सोबती- राजकमल प्रकाशन, सं.2000
- गिलिगडु, चित्रा मुद्गल, सामयिक प्रकाशन, सं.2002
- पतझड़, नील पद्मानाभन, हिंदी अनुवाद- एच. बालसुब्रह्मण्यम, साहित्य अकादेमी प्रकाशन, 2014
- वृद्धावस्था का सच, विमला लाल, कल्याणी शिक्षा परिषद, 2010

लेखक परिचय

रीनू गुप्ता

सहायक आचार्य, हिंदी विभाग

श्याम लाल कॉलेज(सांध्य)

दिल्ली विश्वविद्यालय

.....